जरूरत है : कल्पनाशील नेतृत्व, संघर्ष और निर्माण की

रामशरण जोशी

देश में मंडल-आयोग की क्रियान्वयन-यात्रा का लगभग डेढ़ दशक पूरा होने को है। इस यात्रा-अवधि में दलित और पिछड़ों ने साथ-साथ अपनी समांतर सामाजिक और राजनीतिक अस्मिताएं स्थापित की हैं। इन अस्मिताओं में तात्कालिक और दीर्घकालीन आक्रामकता अंतर्निहित है। इस आक्रामक अस्मिता का ही परिणाम है कि उत्तरप्रदेश में दलित प्रतिनिधि पार्टी बहुजन समाज की नेता मायावती तीन-तीन बार मुख्यमंत्री बनीं। इसी तरह पिछड़े वर्गों के नेता व समाजवादी पार्टी के संस्थापक मुलायम सिंह यादव ने भी तीन बार प्रदेश की कमान संभाली। आज भी वह मुख्यमंत्री हैं। यही स्थिति बिहार की है। लालू यादव दंपती पिछले पंद्रह वर्षों से प्रदेश की राजसत्ता सम्भाले हुए हैं। कोई आश्चर्य नहीं होगा कि 2005 में होने वाले विधान सभाई चुनावों में चौथी बार भी यही दंपती सत्ता में आ जाए; पत्नी राबड़ी देवी तीसरी बार मुख्यमंत्री बने। पति लालू यादव पहले से ही केंद्र में रेलमंत्री हैं। आज तो मध्यप्रदेश के मुखामंत्री भी बाबूलाल गौर (यादव) हैं।

यह आश्चर्यजनक संयोग है कि दलित और पिछड़े वर्गों का 'अस्मिता उभार' तथा वैश्विक पूंजीवाद का अश्वमेध यज्ञ

लगभग साथ-साथ आरंभ हुआ। विश्वनाथ प्रताप सिंह की अल्पजीवी सरकार ने 1990 में मंडल आयोग को लागू किया। 1991 में नरसिंह राव के नेतृत्व में कांग्रेस सरकार ने भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की शुरूआत की। तत्कालीन वित्तमंत्री और वर्तमान प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने जुलाई 1992 में भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के प्रथम चरण को शुरू किया था। दूसरे शब्दों में भारतीय राष्ट्र राज्य की 'हाशिया कृत' व सुप्त अस्मिताओं की 'अपने को स्थापित करने की यात्रा' और वैश्विक पूंजीवाद की 'निर्बाध व उन्मुक्त यात्रा' भी समानांतर चली हैं क्योंकि दोनों को नई गतिशीलताओं और गुणात्मक संस्थागत परिवर्तनों की ज़रूरत है; एक को उपभोक्तावाद व नया बाज़ार चाहिए; और दूसरे को संरक्षित व अभेद्य मतदाता क्षेत्र तथा राजसत्ता की ज़रूरत है। दोनों का गतिविज्ञान आधारभूत परिवर्तनों से प्रेरित है, और उनका वाहक भी है। उपभोक्तावाद और बाज़ारवाद ने समाज में नए समीकरणों को जन्म दिया है, और राजनीति को अधिक गतिशील व व्यापक बनाया है। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इस अवधि में सत्ता के विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया भी शुरू हुई है ग्राम सरकार व ज़िला सरकार के प्रयोग हुए। इन प्रयोगों ने हाशिए की मानवता में बहुआयामी हस्तक्षेप करने की तीव्र उत्कंठा पैदा की है। अस्सी के दशक तक दलित और पिछड़े 'सवर्ण संरक्षणवाद' के कैदी थे। देश का सवर्ण अभिजन वर्ग चाहता था कि दलित और पिछड़े उसकी कृपा कर आश्रित रहें। यह वर्ग ही निर्धारित करेगा कि इन वंचित वर्णों को नीति निर्णय-प्रक्रिया में हिस्सेदारी की कितनी छूट दी जाए? परंपरागत ढंग से सवर्ण शासक अभिजन वर्ग ही वंचितों को परिभाषित करता आया है; एक तरफ वंचित मानवता को संरक्षण प्रदान किया गया, और दूसरी तरफ उसका सामाजिक-सांस्कृतिक उत्पीड़न व आर्थिक शोषण भी जारी रखा। संक्षेप में, संरक्षण और शोषण की प्रक्रियाएं शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के साथ चलती रहीं। लेकिन, अब इस स्थिति में गुणात्मक बदलाव आया है। कभी वक्त था जब दलितों और पिछड़ों के अस्तित्व से ही इंकार किया जाता था। लेकिन, आज उनमें अस्तित्व व अस्मिताबोध जाग्रत हो चुका है। वे स्वयं राज्य और राजसत्ता के साथ अपने रिश्तों की सीमाएं निर्धारित करेंगे। वे इस स्थिति में पहुंच चुके हैं। देश के परंपरागत शासक अभिजन वर्ग को चाहिए कि इस दस्तक देते यथार्थ को शीघ्रता से आत्मसात करे। वैसे इसका सिलसिला शुरू भी हो चुका है। दक्षिण भारत का सवर्ण अभिजन वर्ग तो बहुत पहले ही इस यथार्थ को स्वीकार कर चुका है। चारों राज्यों की सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक सत्ता ग़ैर-सवर्ण नेतृत्व का लगभग एकाधिकार स्थापित हो चुका है। लेकिन दलित आज भी वहां हाशिए पर हैं। दलित और पिछड़ों के बीच अंतर्विरोध कालांतर में विस्फोटक रूप ले सकते हैं। निःसंदेह यह चेतावनीभरी समस्या है। इसका निदान आवश्यक है।

लेकिन उत्तर भारत की स्थिति दक्षिण से भिन्न है। पर दलित और पिछड़ों के बीच व्याप्त अंतर्विरोध अभी से पैने होने लगे हैं। मुझे लगता है, दलित और पिछड़े वर्ग 'सामाजिक-क्रांति' को बाईपास करके राजसत्ता को निर्णायक रूप से हासिल करना चाहते हैं। दोनों के बीच सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तरों पर 'नेतृत्व प्राप्ति' के लिए संघर्ष शुरू हो चुका है। यह संघर्ष कभी हिंसात्मक रूप लेता है, कभी शांतिपूर्ण, लेकिन तनाव हमेशा बना रहता है। ग़ौर तलब यह है कि दक्षिण और पश्चिम में दलितों की 'अस्मिता सत्ता' अस्तित्व में नहीं आ सकी है। महाराष्ट्र और गुजरात में मझौली जातियों का दबदबा है। इन राज्यों में राजसत्ता की केंद्रीयता बनने से दलित काफी दूर हैं। लेकिन उत्तर भारत के दो केंद्रीय राज्यों—उत्तरप्रदेश व बिहार में दलित केंद्रीयता के समीप है। कई मामलों में निर्णायक स्थिति में हैं। ये वर्ग संघर्ष की चेतना से लैस हैं। परंतु राजस्थान, मध्यप्रदेश, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तरांचल जैसे राज्यों में 'दलित अस्मिता' अभी 'हस्तक्षेपवादी आकार' नहीं ले सकी

है जबकि पिछड़े केंद्रीयता के समीप पहुंच चुके हैं। इन राज्यों में सवर्ण और ग़ैर-सवर्ण अंतर्विरोध अभी आक्रामकता के साथ उभरे नहीं है। इसलिए रैडिकल प्रभाव और परिवर्तन की दृष्टि से इनकी स्थिति बिहार और उत्तरप्रदेश से बिल्कुल भिन्न है। जब तर्क ये धारदार और मुखरित नहीं होते हैं तब तक सत्ता-चरित्र में बुनियादी बदलाव की उम्मीद नहीं की जा सकती। अतः सुप्त हिंदी क्षेत्रों में 'दलित विमर्श' की बेहद ज़रूरत है।

ज़रूरत इस बात की भी है कि हिंदी पट्टी के हाशिए के लोग वैकल्पिक समानांतर संस्कृति को विकसित करें जोकि सवर्ण संस्कृति से रैडिकल रूप से अलग दीखनी चाहिए। विडंबना यह है कि एक ओर मनुवादी संस्कृति-सोच की भर्त्सना की जाती है। उसे राजनीतिक स्तर पर ख़ारिज़ कर दिया जाता है लेकिन व्यवहार के स्तर पर इसे अपना लिया जाता है। दलित और पिछड़ों के अभिजन वर्ग की जीवन शैली और सवर्ण अभिजन वर्ग की जीवन शैली में बुनियादी फ़रक दिखाई नहीं देता है। सत्ता से सम्पृक्त होने के उपरान्त ग़ैर-सवर्ण अभिजन वर्ग में सवर्ण अभिजन की भौंड़ी नकल करने की ललक पैदा हो जाती है; दलित और पिछड़े पाठ-पूजा करने लगते हैं; ज्योतिषियों के जाल में फंस जाते हैं; अंधविश्वास के शिकार हो जाते हैं; उत्पीड़क व्यवहार करने लगते हैं; परजीवी संस्करों को अपनाने लगते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि इसी के साथ ही सवर्णों की मनुवादी संस्कृति की विजय-यात्रा अदृश्य रूप से आरम्भ हो जाती है। समाजशास्त्री इसे 'संस्कृतिकरण' की प्रक्रिया कहते हैं। इस प्रक्रिया को पूर्णरूपेण उलटने की आवश्यकता है। एक नई रैडिकल जीवन शैली के आविष्कार की आवश्यकता देश को है। वरना मनुवाद से 'मोक्ष' संभव नहीं है।

राजसत्ता की प्राप्ति का अर्थ यह नहीं है कि इससे सामाजिक क्रांति होगी। दलित और पिछड़ों के एजेंडे पर सत्ता प्राप्ति का लक्ष्य तो है लेकिन आधारभूत सामाजिक बदलाव का लक्ष्य इसमें दर्ज़ दिखाई नहीं देता है। ये दोनों लक्ष्य साथ-साथ चलने चाहिए। उत्तर भारत में इन दोनों लक्ष्यों के बीच गहरी खाई दिखाई देती है। इसलिए इस क्षेत्र का शासक अभिजन वर्ग बहुत चिंतित नहीं है।

संक्रमण-काल के दौरान एक बात को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए, और वह है 'राज्य संचालन'। खुरदरे लोगों को राज्य कला से लैस होना पड़ेगा। देश का शासन-तंत्र आधुनिक है। यह काफ़ी 'सोफस्टीकेटेड' व 'कॉम्पलेक्स' है। संघर्ष के माध्यम से इस पर कब्ज़ा तो किया जा सकता है लेकिन इसके संचालन के लिए 'कल्पनाशीलता' व 'विकासोन्मुख नेतृत्व' की भी आवश्यकता होती है। यदि आपने इसका प्रयोग सतर्कता और रचनात्मकता के साथ नहीं किया तो यह आपको मंज़िल से भटका देगा। आप अपने लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं कर पाएंगे। इस संदर्भ में आज दलित और पिछड़ा नेतृत्व पथविचलन की चपेट में दिखाई दे रहा है। दोनों वर्गों के नेतृत्व 'स्टेट क्राफ्ट' से प्रायः अनभिज्ञ हैं। परिणामस्वरूप, वे इसका सफल व कुशल संचालन नहीं कर पा रहे हैं। विकास व सुशासन की दृष्टि से उत्तरप्रदेश व बिहार काफ़ी 'बदनाम' हो चुके हैं। संभव है, एक सीमा तक यह बदनामी प्रायोजित हो लेकिन इसका सच भी नकारा नहीं जा सकता। क्यों प्रतिभा और श्रम का पलायन बिहार से होता है? क्यों ये राज्य 'अपराधीकरण' व 'सामाजिक अस्थिरता' के लिए विवादों में बने हुए हैं? क्यों यहां का शासन-तंत्र दम तोड़ता हुआ दिखाई दे रहा है? क्यों राज्य की 'हस्तक्षेप-क्षमता' चुकती जा रही है? यदि ये सवाल निरंतर बने रहते हैं और इन्हें माकूल ढंग से नहीं समझा जाता तो खुरदरे वर्गों की नेतृत्व क्षमता पर प्रश्न चिन्ह लग जाएगा। ये शासन करने की वैधता खोने लगेंगे। वक़्त का तक़ाज़ा है कि संघर्ष, बदलाव, विकास और निर्माण साथ-साथ चलें। यदि ऐसा होता है तो मनुवादी नेतृत्व स्वतः अप्रासंगिक हो जाएगा। इसके साथ ही उसके 'विलोपीकरण' की प्रक्रिया भी आरंभ हो जाएगी।

भूमंडलीकरण के वातावरण में खुरदरे लोगों के नेतृत्व



को यह नहीं भूलना चाहिए कि उसका पाला वैश्विक पूंजीवाद, हाई टेक्नोलॉजी और बाज़ार तानाशाही से पड़ा है। इस परिदृश्य में राष्ट्र राज्यों के अस्तित्व के लिए ही संकट पैदा होता दिखाई दे रहा है। अतः अब कोरे संघर्ष से काम चलेगा नहीं अतः दलित आदिवासी और पिछड़ों के नेतृत्व से अपेक्षित है कि वे नए यथार्थ और उसके जटिल दूरगामी प्रभावों को गंभीरता से समझें। यदि वे इसमें चूकते हैं तो इसके गंभीर परिणाम निकलेंगे। राज्य-संचालन में प्रोफेशनलिज़्म से लंबे समय तक बचा नहीं जा सकेगा। पांचवें और नवें दशक की शासन-शैलियों की सीमाएं उजागर हो चुकी हैं। सवर्ण अभिजन वर्ग भी अपने भविष्य को लेकर चिंतित है। लेकिन उसने नई जटिल स्थितियों से उत्पन्न चुनौतियों को समझना शुरू कर दिया है। अतः खुरदरे नेतृत्वों को भी अवसरानुकूल 'रेसपोंस' देने के लिए तत्पर रहना चाहिए। तभी वे राज्य, पूंजी, तकनोलॉजी, और बाज़ार को लोकोन्मुखी बना सकेंगे। इसलिए इन नेतृत्वों को नए एजेंडे की ज़रूरत है। उत्तर मंडल परिदृश्य के एजेंडे को कुछ इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है—

संघर्ष

- I दलित-आदिवासी-पिछड़ा वर्ग साझा मोर्चा।
- II उत्पीड़ित वर्गों के आंतरिक अंतर्विरोधों का मित्रवत् समाधान।
- III सामाजिक क्रांति की रणनीति में व्यापक भागीदारी।
- IV सवर्ण आरोपित जाति-व्यवस्था का उन्मूलन।
- V हाशियाकृत वर्गों में अंतरजातीय विवाह
- VI सवर्ण आरोपित परंपरागत रीति-रिवाजों व देवी-देवताओं का बहिष्कार
- VII ग्रामीण समाज में गरिमापूर्ण स्थान के लिए अवसरानुकूल संघर्ष। ज़रूरत पड़ने पर सवर्णों का बहिष्कार।
- VIII लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में जीवंत सह-भागिता।
- IX सार्वजनिक स्थानों (स्कूल-कॉलेज, मंदिर, प्याऊ, सभा स्थल आदि) पर बराबरी के लिए आग्रह करना।
- X स्त्री-पुरुष के लिए समान वेतन व सुविधाओं की मांग करना।
- XI अमानवीय कार्यों का बहिष्कार करना।
- XII समानता व गरिमा आधारित रैडिकल संस्कृति को विकसित करना।

विकास व निर्माण

- I कल्पनाशील नेतृत्व को विकसित करना और स्टेट क्राफ्ट को समझना।
- II प्रौद्योगिकी से मित्रता।
- III मीडिया में अधिकाधिक हिस्सेदारी।
- IV दलित-पिछड़ा-आदिवासी शासित राज्यों में विकास व निर्माण की प्रक्रिया तीव्र करना।
- V रैडिकल शिक्षा प्रणाली का विकास।
- VI उपलब्ध संसाधनों का उत्पादनोमुख उपयोग।
- VII अपराधीकरण, राजनीतिक भ्रष्टाचार और ग्लैमरीकृत जीवन शैली पर कठोर पाबंदी।
- VIII सत्ता का निरंतर विकेंद्रीकरण व परिवारवाद को विदाई।
- IX भूसुधारों पर सख़्ती से अमल।
- X जाति पंचायतों का आधुनिकीकरण और बर्बर परंपराओं के विरुद्ध मोर्चाबंदी।
- XI नई पीढ़ी में जेनुइन आधुनिकता को विकसित करना और समाज में आधुनिक विमर्शों को चलाना।
- XII वंचित वर्गों में सर्जनात्मक ऊर्जा का विकास व विस्तार।